ARYAVART SHODH VIKAS PATRIKA
RNI TITLED NO. UPBIL04292
RNI REG. NO. UPBIL/2014/66218 PP. NO.- 214-216
ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-13, No.-II, Issues-17, YEAR- Sept. -2020

दलित जातियों में राजनैतिक गतिशीलता

ओम प्रकाश कुमार
एम.ए., पीएच.डी. –राजनीतिशास्त्र, ग्राम–गेन्दा बिगहा, पो0–धबल बिगहा, जहानाबाद (बिहार), भारत

Received- 04.08.2020, Revised- 08.08.2020, Accepted - 10.08.2020 E-mail: - dr.ramanyadav@gmail.com

सारांश : ***भारत में दलितों, शोषितों, निर्बलों व पिछड़े वर्गों की स्थिति पर लोकतंत्र का व्यापक प्रभाव पड़ा है। शिक्षा के प्रचार–प्रसार, भाषण और लेखन की स्वतंत्रता ने इनमें विवेकशीलता बढ़ाई है और इन वर्गों को संगठित होने के अवसर प्रदान किये हैं। वयस्क मताधिकार ने उनमें राजनैतिक चेतना का संचार किया है। इनकी राजनैतिक भागेदारी बढ़ाई है और अधिकारों के प्रति जागरूकता उत्पन्न की है। अस्सी के दशक में अनिल भट्ट लिखते हैं कि जो जाति जिस स्थिति में है उसकी राजनीति में भागेदारी भी उसी प्रकार है।***

कुंजीभूत शब्द– कोरोना, विश्व स्वास्थ्य संगठन, वायरस, ट्रेडोस एधानोम गेब्रेयेसुस, डिसीज, विषाणु ।

आज के सन्दर्भ में वर्ग और राजनीति में गतिशीलता देखी जा सकती है। जाति और राजनीति का रूप बदल गया है। पहले उच्च जाति के लोग राजनीति में बढ़–चढ़कर भाग लेते थे, लेकिन जब से राजनीति संख्या बल के आधार पर होने लगी तब से राजनीति का स्वरूप ही बदल गया। कुछ लोग इसको जातिवाद के रूप में देख रहे हैं। पहले जिन जातियों की राजनीति में भागेदारी निम्न स्थिति में थी, आज उनके स्थिति में परिवर्तन हुआ है और वह अब मध्यम और उच्च स्थिति में हैं।

आज दलितों का लोकतांत्रिक किन्तु उग्रवादी स्वर भारतीय समाज का एक सामाजिक–राजनैतिक यथार्थ बन गया है। भारतीय समाज में यह एक 'नवीन क्रान्ति' के रूप में उभर कर सामने आया है। जाति के विचार से बुरी तरह से ग्रस्त भारतीय समाज अपनी स्वभावगत असमानता, पदानुक्रम एवं विशिष्ट वर्गों को सुविधाओं से वंचित रखने वाले अपने व्यवहार में अब धीरे–धीरे परिवर्तन कर रहा है। पारम्परिक रूप से सुविधाहीन वर्ग अब विकास करते हुए अपने अधिकारों की जनतांत्रिक अभिव्यक्ति के माध्यम से अपनी उपस्थिति का एहसास करा रहे हैं। निश्चित रूप से इसके परिणामस्वरूप शक्ति का विकेन्द्रीकरण एवं भारतीय समाज का अधिक से अधिक जनतंत्रीकरण होगा।

यद्यपि बुद्ध से लेकर अम्बेडकर तक सामाजिक असमानताओं के विरूद्ध संघर्ष का एक लम्बा इतिहास रहा है किन्तु जनतांत्रिक ढांचे ने सुविधाहीन एवं कम सुविधा प्राप्त वर्गों को इस असमानता को समाप्त करने के अपेक्षाकृत अधिक प्रभावकारी अवसर प्रदान किये हैं। उन्नीसवीं सदी में होने वाले दलित एवं पिछड़े वर्गों के आन्दोलन इस संघर्ष में महत्वपूर्ण परिवर्तन लाने में सक्षम हुए हैं। पेरियार रामास्वामी के नेतृत्व में तमिलनाडु में छेड़े जाने वाले 'स्वाभिमान आन्दोलन' ने वैदिक धर्मशास्त्रों, जातिव्यवस्था, ब्राह्मणवादी सामाजिक व्यवस्था एवं ईश्वर की अवधारणा पर सीधा आक्रमण किया। इसी तरह बी.आर.अम्बेडकर ने जाति व्यवस्था के विरूद्ध खुलकर संघर्ष किया तथा जब उन्हें यह अनुभव हो गया कि स्थिति अत्यधिक शोचनीय है, तो उन्होंने हिन्दू धर्म त्याग कर बौद्ध धर्म अंगीगार करते हुए इसे ही दलितों के लिए मुक्ति का रास्ता घोषित किया। फुले–नायकर–अम्बेडकर परम्परा आज भी समाप्त नहीं हुई है। अपने अधिकारों की जनतांत्रिक अभिव्यक्ति हेतु दलितों में बढ़ती चेतना इस तथ्य की गवाह है।

जनतांत्रिक अभिव्यक्ति की प्रक्रिया में भारत की राजनीति भी 'जाति के विचार से ग्रस्त' हो गई है। अतः भारत में बढ़ता 'जातिवाद' बहस का एक महत्वपूर्ण मुद्दा बन गया है। क्या जातीय अपील का आशय 'जातिवाद' है अथवा यह सुविधा वंचित वर्गों की जनतांत्रिक अभिव्यक्ति का एक रूप है? राजनीति में जाति की बढ़ती भूमिका सर्वाधिक आधुनिकतावादियों को पसंद नहीं होगी किन्तु जैसा कि रजनी कोठारी (1970) कहते हैं, ''राजनीति एक प्रतियोगितावादी क्षेत्र है, इसका उद्देश्य है– निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए शक्ति अर्जित करना तथा इसकी प्रक्रिया के अन्तर्गत स्थितियों/पदों को गतिमान एवं सुदृढ़ करने के लिए विद्यमान एवं उदित होती हुई निष्ठाओं को पहचानते हुए उनमें परिवर्तन करना समाहित होता है।. ...'जहाँ जातीय संरचना मुख्य संगठनात्मक समूह प्रस्तुत करता हो जिसके साथ–साथ विशाल जनसंख्या जीवनयापन करती है, राजनीति का इस प्रकार की संरचना या ढांचे द्वारा संगठित होना अपेक्षित है।'' यह राजनैतिक अभिव्यक्ति व अग्राहिता सामाजिक रूपान्तरण के विकासशील एजेण्डा को एक नया अर्थ प्रदान करती है। ''हाशिए पर जीवन–यापन

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-13, No.-II, Issues-17, YEAR- Sept. -2020

करने वालों के स्वर में इतनी शक्ति दिखाई देती है कि वह हिन्दुवाद को अपनी बुराईयों की ओर देखने को मजबूर कर दके। चूंकि हिन्दुवाद की कल्पना इसकी असमानताओं एवं पदानुक्रमों के अभाव में नहीं की जा सकती, अतः नई राजनीति द्वारा हिन्दुवाद पर बढ़ते आक्रमण सुधारवादी हिन्दुवाद से कहीं अधिक प्रासंगिक एवं तीक्ष्ण हैं।''

दलित राजनीति पर नजर डालने पर हम पाते हैं कि सन् 1942 से पहले दलितों का अपना कोई राजनैतिक दल नहीं था। इसका एक कारण यह था कि गांधी एवं कांग्रेस पार्टी यह नहीं चाहती थी कि दलितों का अपना स्वतंत्र राजनैतिक दल व स्वतंत्र पहचान हो। अतः सन् 1942 ई. में बी.आर. अम्बेडकर द्वारा 'अखिल भारतीय अनुसूचित जाति संघ', की स्थापना को इस दिशा में प्रथम प्रयास माना जाता है। इस संघ के मुख्य उद्देश्य थे– ''अनुसूचित जातियों द्वारा भारत के राष्ट्रीय जीवन में एक अलग एवं विशिष्ट तथ्य के रूप में प्रस्थिति प्राप्त करना तथा अपने लिए राजनैतिक, आर्थिक एवं सामाजिक अधिकार प्राप्त करना, जिसका उन्हें अपनी आवश्यकताओं, जनसंख्या एवं महत्व की दृष्टि से पूरा अधिकार है।''

सन् 1956 में अम्बेडकर ने इस संघ को बन्द करने का निर्णय ले लिया क्योंकि इसकी सदस्यता केवल अनुसूचित जातियों तक ही सीमित थी। इसके स्थान पर उन्होंने रिपब्लिकन पार्टी ऑफ इण्डिया (आर.पी.आई) के नाम से एक नया दल स्थापित किया। इस दल को सन् 1957 में उनकी मृत्यु के बाद निश्चित आकार प्राप्त हुआ था तथा इसका उद्देश्य था– दलितों, आदिवासियों तथा जनजातीय लोगों, पिछड़े वर्गों, कृषकों एवं भूमिहीन खेतिहर मजदूरों के हितों का संरक्षण करना। अनेक वर्षों तक इस दल के समर्थकों में सर्वाधिक उनकी अपनी ही जाति के लोग अर्थात् महाराष्ट्र के महार ही थे। ''रिपब्लिकन पार्टी'' का इतिहास अनुसूचित जातीय राजनीति की जिम्मेदारियों, विरोधाभासों एवं सामर्थ्य को प्रकट करता है।'' सन् 1962 के चुनावों में आर.पी.आई ने 68 संसदीय सीटों के लिए चुनाव लड़ा तथा कुल तीन सीटें जीती जो उत्तर प्रदेश की थी। इसने 301 विधानसभा सीटों के लिए चुनाव लड़ा तथा कुल 11 सीटें जीती जिनमें से 3 महाराष्ट्र की तथा 8 उ.प्र. की थी। दोनों ही राज्य दो बिल्कुल भिन्न चुनावी प्रयासों के उदाहरण हैं, जिनमें से एक असफल हुआ तथा दूसरा सफलता का अग्रदूत बना।

'रिपब्लिकन पार्टी ऑफ इण्डिया' का चुनावी इतिहास राजनैतिक जीवन के उन कठोर तथ्यों को प्रस्तुत करता है, जो अपने नेतृत्व में शक्ति अर्जित करने की इच्छा रखने वाले किसी भी अनुसूचित जातीय वर्ग को झेलने पड़ेंगे, उन्हें जीतने के लिए उच्च हिन्दू जातियों के वोट अर्जित करने पड़ेंगे, समान वर्ग हितों पर आधारित अन्तरजातीय सम्बन्ध स्थापित करने होंगे तथा मुसलमानों के भी समान जाति समूहों का विश्वास जीतना होगा। यह तथ्य कि गैर–अनुसूचित जातीय वोट आरक्षित विधानसभा क्षेत्रों में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं, निश्चित रूप से ध्यान में रखना होगा। सन् 1970 ई. तक 'रिपब्लिकन पार्टी ऑफ इण्डिया' हाशिए पर आ गई और आज इसकी उपस्थिति केवल दो–तीन राज्यों में ही है।

यदि हम शूद्र राजनीति पर नजर डालें, और वह भी विशेष रूप से उत्तर भारत में, तो हम पाते हैं कि राम मनोहर लोहिया के नेतृत्व में छेड़ा गया समाजवादी आंदोलन गैर कांग्रेसी दलों की विजय का महत्वपूर्ण कारक था तथा इसने शूद्र जन समुदाय की चेतना एवं आकांक्षा को अत्यधिक बढ़ाया। उत्तर–प्रदेश के सन् 1993 के विधान सभा चुनावों ने शूद्र एकता का एक नया नमूना प्रस्तुत किया। इसे पिछड़ी दलित एकता अथवा शूद्र–अतिशूद्र एकता के नाम से जाना गया। डी.एम. के.के.सी.एम. अन्नादुरई की राजनैतिक सफलता का सामाजिक आधार भी यही था। भविष्य में यह गठबंधन काम न कर सका, जिसका मुख्य कारण जनसंख्या के इन दो वर्गों के हितों में संघर्ष एवं मुलायम सिंह यादव एवं कांशीराम के बीच में पाया जाने वाला विरोध था। साथ ही वे एक दृढ़ विचारधारा वाला आधार भी नहीं बन सके।

बहुजन समाज पार्टी जो कि एक दलित पार्टी के रूप में उदय उत्तर–प्रदेश के राजनैतिक एवं सामाजिक परिदृश्य में एक महत्वपूर्ण तथ्य है। यह दलितों के मध्य इस बात के प्रति बढ़ती चेतना का परिणाम है कि जाति पदानुक्रम वाली पारम्परिक हिन्दू सामाजिक व्यवस्था उन्हें सामाजिक न्याय नहीं दिला पायेगी। बी.एस.पी. की जड़े सन् 1976 में कांशीराम द्वारा स्थापित 'बाम सेफ' अर्थात् सरकारी कर्मचारियों के निम्न मध्यम जातीय कर्मचारी संघ में थी। कांशीराम ने सन् 1960 के दशक के अंतिम वर्षों में कुछ समय के लिए 'रिपब्लिकन पार्टी ऑफ इण्डिया' की सदस्यता ली थी किन्तु बाद में जब उन्हें यह लगा कि यह पार्टी कांग्रेस की 'पिट्ठू' है तो उन्होंने यह पार्टी छोड़ दी। बाद में डी.एस.–4 के निर्माण के साथ ही इसका आधार विस्तृत हुआ। दोनों ही बहुजन समाज पार्टी का गठन सन् 1984 करने के लिए आगे आए। 'बी.एस.पी.' दावा करती है कि लामबन्दी सम्बन्धी विचारधाराएं एवं रणनीतियां अम्बेडकर के लेखन एवं वक्तव्यों पर आधारित है किन्तु वास्तविकता में ये मुख्य रूप से कांशीराम तथा कुछ अंशों में मायावती से प्रभावित है। दोनों ने मिलकर उत्तर अम्बेडकर नेतृत्व प्रस्तुत किया है

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-13, No.-II, Issues-17, YEAR- Sept. -2020

जिसने अम्बेडकरवाद को उत्तर भारतीय राजनैतिक स्थिति में परिवर्तित करने की कोशिश की है। सन् 1990 ई. के दौरान, जब वे सत्ता में थे, उन्होंने न केवल ज्योतिबा फुले बल्कि पेरियार की सांस्कृतिक विरासत का लाभ पेरियार मेलों द्वारा उठाने की कोशिश की। आरम्भ में पार्टी ने गांधी एवं कांग्रेस की आलोचना द्वारा वैचारिक दृढ़ता प्राप्त करने की कोशिश की, जिसके बिना यह दलितों को संगठित न कर पाती तथा न ही स्वयं को वास्तविक दलित प्रतिनिधि के रूप में स्थापित कर पाती। बी.एस.पी. की विचारधारा दक्षिण भारतीय ब्राह्मण विरोधी आंदोलनों के समान है। यद्यपि एक मौलिक अन्तर है कि इसका ब्राह्मण विरोध राजनैतिक अधिक है तथा सांस्कृतिक कम।

आज बी.एस.पी. नेतृत्व के समक्ष एक कठिन प्रश्न है– क्या यह क्रांतिकारी सामाजिक परिवर्तन लाने हेतु प्रतिबद्ध एक आंदोलन है अथवा यह एकमात्र राजनैतिक दल है जिसका एकमात्र उद्देश्य शक्ति अर्जित करना है। परिणामस्वरूप यह एक ऐसी स्थिति में पहुंच गई है जहां से दोनों का ही आगे विकास कठिन दिखता है। सन् 1996 ई. के विधानसभा चुनावों में पार्टी द्वारा कांग्रेस से सम्बन्ध जोड़ने के निर्णय तथा बी.जे.पी. के साथ दो बार साझा सरकार बनाने के फैसले की कठोर शब्दों में आलोचना हुई। इन कारणों से बी.एस.पी. का विशिष्ट दलित पार्टी नहीं कहा जा सकता क्योंकि राजनैतिक स्वार्थों के कारण यह दलित हितों से समझौता करने से कतई नहीं चूकती। अम्बेडकर एवं अन्य लोगों के प्रयोगों के बावजूद भी दलित आंदोलन सर्वाधिकतः जाति आधारित हो रहा है। परिणामस्वरूप, यह समस्त सुविधा वंचित वर्गों को एकीकृत करके यथार्थ में दलित पहचान प्रदान करने में असफल रहा है। दलित नेतृत्व पर एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ में विवेक कुमार कहते हैं, "आंदोलन की सफलता एवं असफलता का निर्धारण करने वाला सबसे महत्वपूर्ण कारक उसके नेतृत्व का स्वभाव, गतिकी एवं कर्मठता है। रिपब्लिकन पार्टी ऑफ इण्डिया, दलित पैंथर्स, पिछड़े एवं अल्पसंख्यक वर्गों, कर्मचारी संघों (बामसेफ) एवं बहुजन समाज पार्टी के नेतृत्व इस तथ्य के उल्लेखनीय उदाहरण है.... सभी जानते हैं कि आज तक राज्य में दलित नेतृत्व को उच्चतम सरकारी पदों की प्राप्ति का बहुत कम अवसर प्राप्त हुआ है, किन्तु यदि एक बार इसे राज्य में लम्बे समय तक शासन करने का अधिकार प्राप्त हो जाय, तो समाज के ढांचे में महत्वपूर्ण परिवर्तन हो सकते हैं तथा दलितों के सशक्तिकरण द्वारा उन्हें भारतीय समाज का महत्वपूर्ण अंग बनाया जा सकता है।'' उनके अध्ययन के अन्तर्गत दलित नेतृत्व की अवधारणा, दलित नेतृत्व की प्रकृति एवं कर्मठता, दलित नेतृत्व की राजनैतिक पहचान तथा दलितों और विशेष रूप से दलित महिलाओं के बीच अधिक प्रभावकारी एवं मजबूत दलित नेतृत्व का अभाव आदि आते हैं। किन्तु एक बात जो हम बिल्कुल नहीं भूल सकते हैं वह यह है कि यदि मात्र चुनावी राजनीति के द्वारा जातिगत ढांचे को तोड़ना संभव होता तो आज यह इतना अधिक निरूत्साहित करने वाला नहीं होता, जितना कि है (हसनैन, नदीम 2005)।

राजनैतिक दृष्टि से दलित इस तथ्य को समझने लगे हैं कि राजनैतिक संदर्भ में उन्हें अपनी अधिक संख्या का लाभ उठाना है। हो सकता है कि वे राजनैतिक दल के रूप में एक न हो सकें, लेकिन प्रभुत्व वाली राजनैतिक पार्टियों, जैसे कांग्रेस या जनता दल या भाजपा आदि का समर्थन करके वे अपने समर्थन का मूल्य वसूल कर सकते हैं। लेकिन समस्या यह है कि यद्यपि शिक्षित दलित तो राजनीतिकरण का सबूत दर्शाते हैं, लेकिन सामान्य दलित उनकी प्रक्रिया से अभी भी अछूते हैं। अभिजात वर्ग तो अनुसरण और सहमति की राजनीति से दबाव और विरोध की राजनीति तक आ गये हैं, लेकिन अभी भी वे न तो सामान्य मंच ही बना सके हैं और न ही परिवर्तनशील छवि विकसित कर सके हैं (आहूजा, राम 2000)।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. विद्यार्थी, एल.पी. (1997): हरिजन टूडे, सोशियोलॉजीकल, इकोनोमिक, पॉलिटिकल, रिलेशन एंड कल्चर एनालाइसिस, क्लासिकल पब्लिकेशन, नई दिल्ली।
2. वानखेड़े, जी.जी. (1999): सोशल मोबिलिटी एण्ड शिड्यूल्ड कास्ट्सः रिसिडिंग हरिजन, रावत पब्लिकेशन, नई दिल्ली।

*****